



## संगीत की दृष्टि से हिन्दी नाट्य का वर्तमान में स्वरूप

मनीष बोहरे

राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय ग्वालियर, मध्य प्रदेश, भारत।

### प्रस्तावना

नाट्य और संगीत समूचे संसार की सभी संस्कृतियों में अत्यंत निकट और नैसर्गिक सहयोगी रहे हैं। विश्व की अन्य संस्कृतियों के कलाचिंतकों के चिंतन में भारतीय कलाओं या भारतीय उपमहाद्वीप की कलाओं का नाट्य और संगीत का संबंध स्वीकार करना भले कठिन हो, परन्तु यह भारतीय कला और इतिहास की एक सच्चाई है। व्यवहारिक तौर पर नाट्य और भारतीय नाट्य परम्परा में पृथक विधा के तौर पर नहीं देखे जाते और यह संबंध अत्यन्त प्राचीन समय से रहा है। भारतीय चिंतक पाणिनि और कौटिल्य तो नाट्य को गीत, वाद्य और नृत्य के साथ संगीत का ही हिस्सा मानते हैं। अवधारणात्मक रूप से रंग-संगीत की अवधारणा नई है, जो कि नाट्य से ही उत्पन्न है। प्राचीन परम्परा से ही वाद्य और गेय भारतीय संगीत शास्त्रीय संगीत में नाट्य का अभिन्न अंग रहे हैं। मार्गीय से लेकर देशी नाट्य परम्परा और वर्तमान विकसित नाट्य रूपों में संगीत अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। परम्परागत लोक शैलियों में संगीत नाट्य के रूप-रंग गठित करता है। नृत्य गतियों, कथानक, भावों और अभिनेता के वाचिक, सात्विक और व्यवहारिक अभिनय से संगीत अभिन्न रूप से जुड़ा है। सम्प्रेषणीयता ही नाट्य संगीत का सबसे बड़ा अंग है। संगीत ही सम्प्रेषण की परतों को खोलता है और उसे सहज बनाते हुये दर्शकों को सम्मिलित करता है। श्री गिरीश रस्तोगी ने रंग संगीत पर अक्टूबर 1988 में भारत भवन रंग मण्डल के आयोजन में रंग संगीत के औचित्य, सरोकार और अनिवार्यता पर श्री अशोक वाजपेयी जी को उद्धृत किया है।

“इधर की रंग-गतिविधियों में अनेक ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हैं जो प्रमाणित करते हैं कि नाटक में संगीत की हैसियत महज एक अलंकार वस्तु की नहीं है, वह समग्र रंगानुभव के एक प्रभावी घटक के रूप में प्रतिष्ठित है – अक्सर रंगानुभव के ही एक अनुषंग के रूप में।”<sup>1</sup> आधुनिक या सम-सामयिक रंगमंच नाट्य परम्परा की अवधारणा में हबीब तनवीर, मोहन उप्रेती, ब.ब. कारंत, जब्बार पटेल, सतीश आलेकर, आदि के कामों को देखा जा सकता है। इन सभी निर्देशकों ने अपनी-अपनी शैलियों और विशेषताओं के साथ आधुनिक नाट्य परम्परा को स्वरूप प्रदान किया। किसी ने लोक संगीत, लोक धुन, लोक गाथाओं को अपना आधार बनाया, तो किसी ने शास्त्रीय संगीत से प्रेरणा ली, किसी ने अपना पृथक और विशिष्ट संगीत रचा। ब.ब. कारंत ने अन्ठे रंग प्रयोग करते हुये रंग संगीत में अपना पक्ष रखते हुये नई दिशा दी। उनकी प्रमुख प्रस्तुतियाँ अंधेर नगरी, स्कंदगुप्त, मैकवेथ, मालविकाग्निमित्र और मृच्छकटिक, संगीत प्रयोग के लिये चर्चित रहे। गिरीश रस्तोगी जी, स्कंदगुप्त की प्रस्तुति को याद करते हुये कहते हैं – “कारंत जी ने उनके गीतों को जो संगीत दिया, जो नाटकीय अर्थ दिया और रंगमंचीय संभावनाओं के द्वार खोले, उनसे मेरा सीधे साक्षात्कार हुआ। वहाँ ‘गीत’ ही ‘संगीत’ नहीं थे, गीतों के साथ, गीतों के अलावा भी संगीत था, मुद्राएँ थीं, गतियाँ थीं, हाव-भाव थे, नृत्य था। यहाँ साहित्य, शास्त्रीय

संगीत, सुगम संगीत, प्रसाद संगीत सबसे निकलकर ‘रंग संगीत’ रचा गया था।”<sup>2</sup>

कारंत जी शास्त्रीय संगीत के प्रयोग को अपनी रचना में स्वीकार नहीं करते थे, और स्पष्ट कहते थे कि शास्त्रीय संगीत नाट्य प्रदर्शन में प्रयुक्त नहीं हो सकता। रंग संगीत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये इलाहाबाद की एक कार्यशाला में उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा था – “निर्देशक न तो संगीत केवल अलंकरण के रूप में प्रयोग करता है, न मात्र भराव के लिए, न ही भावोद्दीपन के लिए, न कथा के विकास के लिए और न कार्य व्यापार के लिए, बल्कि इन सबसे भिन्न। रंगमंचीय संगीत-रचना रुढ़िगत स्वर-रचना नहीं है, बल्कि एक ध्वनि संयोजन है। पात्रों के संवाद भी इसी ध्वनि-संयोजन का एक अंग बन जाते हैं। इस दृष्टि से यहाँ कोई स्वर बेसुरा नहीं है, कोई ताल बे-ताल नहीं है, कोई ध्वनि अ-शून्य नहीं है। यंत्रों की भर-भर, हवा की साँय-साँय, झरने की कल-कल ये सब इसी संगीत की भाँति हैं। मनुष्य की ध्वनि ही इस ध्वनि संयोजन में प्रमुख है। आधुनिक नाटक तभी आधुनिक कहे जा सकते हैं जब श्रव्य रूप से भी सृजनशील हों, एकान्वित हों, स्वतंत्र हों।”<sup>3</sup> 17 मई 1998 को कारंत ने रूपांतर नाट्य मंच गोरखपुर में रंग-संगीत पर एक सोदाहरण व्याख्यान देते हुये संगीत की व्यवहारिकता पर प्रकाश डाला। व्याख्यान के कुछ अंश उनकी शैली व धारणा को स्पष्ट करते हैं – “नाटक में संगीत कोई आयातित, बाह्य, प्रक्षेपित या जोड़ी हुई चीज़ नहीं हो सकती। यदि यह मात्र इसी तरह केवल डेकोरेटिव हो, जो सृजनधर्मी नहीं हो तो वह नाटक की स्थिति गंभीर बना देगी। ध्वनि भी, संवाद भी, भाषा भी, संगीत भी एक थिएटर में मिल जाते हैं। रंगमंच से हटकर संगीत का कोई अर्थ नहीं है। वह पूरे संदर्भ से जुड़ता है। थिएटर का म्यूजिक संवाद से शुरू होता है, और संगीत की तरह संवाद का भी एक स्वर होना चाहिए। यहाँ तक कि नाटक में एक पात्र के जूते की आवाज़ भी संगीत हो जाती है। इसलिए रंगमंच का संगीत अलग से ‘रंग-संगीत’ है। शास्त्रीय संगीत से ‘रंग-संगीत’ का कोई संबंध नहीं है, भले ही शास्त्रीय संगीत का जानकार रंग-संगीत में पूर्व अनुभवों की छूट और स्वरकारी की मदद ले ले। राग की शुद्धता शास्त्रीय संगीत की संजीवनी है, प्राण है किन्तु रंग-संगीत में शास्त्रीय अनुशासन और व्याकरण से बाहर निकलने की छूट होती है, राग की शुद्धता को तोड़ना ही नाटक का पहला धर्म होता है। वस्तुतः थिएटर में राग का कम, ध्वनियों और उसके रूप वैविध्य, आरोह अवरोह का महत्व ज्यादा होता है थिएटर तो ध्वनि के सभी स्तरों का संयोजन है भले ही वह ध्वनि कहीं से आए, पैदा की जाए या कहीं से प्रयोग में ले लिया जाए किन्तु इस संयोजन एवं प्रयोग में जब तक संगीत या ध्वनि रंग भाषा नहीं बनेगी तब तक वह संगीत रहेगा, नाटक का संगीत नहीं। नाटकों में संगीत अलग से उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना आंतरिक स्तर पर। जीवन में ही संगीत की एक अभिन्न अनिवार्यता है। मुझे एक बुजुर्ग ने कहा कि ‘जब बोलो तो लगे कि गा रहे हो’

और 'जब गाओ तो लगे कि बोल रहे हो।' वस्तुतः स्वर की लयात्मकता का यही स्तर नाट्य के 'दृश्य काव्यत्व और रंग-संगीत' को उच्च भूमि प्रदान कर सकता है। जिस समाज में रिदम नहीं, वही टूटता है। सेंस ऑफ रिदम बहुत जरूरी है। बच्चों में सहज रिदम है। नर्सरी राइम्स क्यों जिंदा है ? वस्तुतः संगीत और भाषा के रिश्ते एकदम आत्मीयता और अंतरंगता से जुड़े हुए हैं। शब्दों की ध्वनियों लयों में अंतर्निहित संगीत को ही मंच पर पकड़ना 'रंग-संगीत' है।<sup>4</sup>

कारंत जी स्पष्ट करते हैं कि नाटकों में संगीत का कोई पूर्व निर्धारित व्याकरण नहीं है, नैसर्गिक और जैविक संबंधों पर ही रंग/नाट्य संगीत की अवधारणा हो सकती है। नाट्य के साथ-साथ ही संगीत आकार लेता है, उसी में पनपता है और इसी तरह अपनी परिणति और सिद्ध को प्राप्त होता है। इसलिए संगीत समकालीन नाट्य को सबसे महत्वपूर्ण और सशक्त अवधारणा बन गया है। नाट्य और संगीत के सह-संबंध को सुरेश अवस्थी के शब्दों में इस तरह से समझा जा सकता है :-  
"नाट्य प्रयोग सामुदायिक सृजन-कर्म है, जिसमें सर्जक-अभिनेता और कला सामग्री आलेख, रंगमंच, रंगसज्जा, प्रकाश-योजना और दर्शक सृजन और संप्रेषण काल में एक साथ उपस्थित रहते हैं और उसके सहभागी होते हैं। ऐसी स्थिति में रंगकर्म का प्रथम सरोकार संप्रेषण से है और संप्रेषण की सरणियाँ दर्शकों की सक्रिय साझेदारी से खुलती हैं। नाट्य-संगीत इन सरणियों को खोलने और संप्रेषण-धारा बनाए रखने में सहायक होता है।

संगीत दर्शक को नाट्य-प्रयोग का बहुपक्षीय सौंदर्य बोध कराता है, और उसकी प्रकृति निर्धारित करने में शब्दों और गतियों के साथ महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रायः तो संगीत ही दर्शक के मन में रागभाव उद्दीपित करता है, और फिर उनकी गतियों और शब्दों तक ले जाता है। नाट्य-प्रयोग की बहुपक्षीय संप्रेषण-सरणियों के विधान में संगीत-सरणि की स्वायत्तता है, वह दूसरी सरणियों से संबद्ध भी रहता है। इन नाट्य-प्रयोगों को देखते समय दर्शक बीच-बीच में वाचिक और आंगिक सरणियों से ध्यान हटाकर संगत-सरणि में केंद्रित करके और कभी आंगिक और बिंब-प्रधान प्रदर्शन-खंडों में ध्यान केंद्रित करके सौंदर्य बोध अनुभव कर सकते हैं।"<sup>5</sup>

जहां संगीत अब अपनी एक नई रंगभाषा में प्रयुक्त होने लगा, लोक शैली को भी नाट्य का अभिन्न अंग बनाया गया, लोकगीत, लोकवाद्य, शास्त्रीय संगीत, को नाटक की रंगभाषा में सम्मिलित किया जाने लगा, जिसे एक नई परिभाषा के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा, संगीत अभिव्यक्ति का साधन पूर्व से ही रहा है, परंतु आधुनिक काल में नवीन उन्मेषों के चलते हुए एक पृथक मनोवैज्ञानिक प्रभाव में सामाजिक जीवन के अर्थ, स्वरूप और सीमाओं, सामाजिक जीवन के ऐतिहासिक पक्ष, धार्मिक पक्ष, पारिवारिक पक्ष के साथ-साथ संवाद, नाटकीय संरचना, शैली, संरचना, चरित्र-भूमिका, नाट्यपृष्ठभूमि का प्रतिनिधित्व करने लगा है।

### संदर्भ सूची

1. ग्रीस रस्तोगी, रंग भाषा, राष्ट्रीय, नाट्य विद्यालय, दिल्ली 1999, पृ. सं. 176।
2. ग्रीस रस्तोगी, रंग भाषा, राष्ट्रीय, नाट्य विद्यालय, दिल्ली 1999, पृ. सं. 177।
3. सुरेश अवस्थी, हे सामाजिक, राष्ट्रीय, नाट्य विद्यालय, दिल्ली 1999 पृ. सं. 264।
4. ग्रीस रस्तोगी, रंग भाषा, राष्ट्रीय, नाट्य विद्यालय, दिल्ली 1999, पृ. सं. 179।
5. सुरेश अवस्थी, हे सामाजिक, राष्ट्रीय, नाट्य विद्यालय, दिल्ली 1999 पृ. सं. 265।